जैन शास्त्रीय परम्परा एवं आधुनिक वैज्ञानिक मान्यता के सन्दर्भ में श्रोत्रेन्द्रिय की प्राप्यकारिता : एक समीक्षा

श्री नन्दलाल जैन

जैन शास्त्रों में भौतिक जीवन से सम्बन्धित अनेक प्रकरण पाये जाते हैं। इन्द्रियों द्वारा अपने विषयों का ज्ञान किस प्रकार किया जाता है—यह प्रकरण भी इनमें से एक है एवं महत्त्वपूर्ण है। जैन मान्यता के अनुसार, चक्षु और मन को छोड़कर सभी इन्द्रियां पदार्थ या वस्तु से संनिकृष्ट, स्पृष्ट या संपर्कित होने के बाद ही विषय ज्ञान कराती हैं। पूज्यपाद[1], अकलंक,[2] प्रभाचंद्र[3] तथा अन्य आचार्यों ने अपने ग्रंथों में इस विषय पर तार्किक विचार किया है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि आंख की रचना और उसकी कार्य पद्धति के विषय में प्राप्त वैज्ञानिक जानकारी के आधार पर चक्षु के अप्राप्यकारित्व की परिभाषा में किंचित् संशोधन की आवश्यकता है।[4] इस लेख में श्रोत्र या कर्णेन्द्रिय की प्राप्यकारिता विषयक मत की समीक्षा का प्रयत्न किया जा रहा है। इस विषय में न्यायकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक, स्याद्वादरत्नाकर, रत्नाकरावतारिका, सन्मतितर्क टीका एवं वीरसेन की धवला टीका में भी प्रकाश डाला गया है। भगवती-सूत्र के शतक ५ उद्देशक ४ में भी इसका उल्लेख है।

श्रोत्र की प्राप्यकारिता संबंधी तर्क :

श्रोत्र के विषय में बौद्धों को छोड़कर अन्य सभी दर्शन प्राप्यकारिता का सिद्धान्त मानते हैं। इसके अनुसार, श्रोत्र अन्य इन्द्रियों के समान ही शब्द या ध्वनि से संपर्कित होने के बाद ही शब्दज्ञान कराने में सहायक होता है। जैन ध्वनि को मूर्त एवं पुद्गल मानते हैं। यह ध्वनि पदार्थों के संघट्टन से उत्पन्न कंपनों से उत्पन्न होती है और अपनी समुचित गति से चलकर कानों के परदे से टकराती है। यह संपर्क ही ध्वनि-ज्ञान में सहायक होता है। इस टकराहट की तीव्रता, मंदता में ध्वनियों की निकटता तथा दूरता का बोध होता है। बौद्धों के अनुसार, कान भी आंख के समान दूर की ध्वनियों को सुनता है, अतः इसे बिना संपर्क के विषय ग्रहण करना चाहिए। कर्ण-पटल पर शब्द के तीव्र और मंद अभिघात उसकी दूर-समीपता का आभास कराते हैं।

जैन अनेक उदाहरणों से बौद्धों के मत का खंडन करते हैं। उनका कहना है कि कान के भीतर घुसे हुए समीपवर्ती मच्छर की आवाज को वह सुनता है, अतः वह प्राप्यकारी है। यह संभव नहीं कि कोई भी इन्द्रिय दूरवर्ती और समीपवर्ती—दोनों प्रकार के पदार्थों का ज्ञान करा सके। दूरता-समीपता का ज्ञान तो घ्राणेन्द्रिय से भी होता है, और वह प्राप्यकारी है। अतः इस आधार पर श्रोत्र की प्राप्यकारिता सिद्ध नहीं की जा सकती। राजवार्त्तिक के अनुसार, शब्द पुद्गलों में सूक्ष्मता के साथ पर्याप्त वेग होता है, वे चारों ओर से कानों में प्रवेश कर सकते हैं और उनके आवागमन में विशेष रुकावट भी नहीं होती है। ये तथ्य श्रोत्र की प्राप्यकारिता की क्रिया-पद्धति का समर्थन करते हैं।

श्रोत्र की प्राप्यकारिता के समर्थन में प्रभाचंद्र ने अनेक तर्क दिए हैं जिनमें शब्द की दूरवर्तिता का विश्लेषण किया गया है। शब्द क्या दूरवर्ती ही होता है? अथवा वह दूरवर्ती कारणों से उत्पन्न होता है, दूर देश से आकर कान में ध्वनि उत्पन्न करता है या दूर देश में स्थित रहता है? यदि शब्द केवल दूरवर्ती ही होता है, मच्छरादि की निकटवर्ती ध्वनियों में शब्द-व्यवहार नहीं होता। दूरवर्ती कारणों से

१. पूज्यपाद आचार्य : सर्वार्थसिद्धि, भारतीय ज्ञानपीठ, १९६४
२. अकलंकदेव, तत्त्वार्थवार्त्तिक—१, वही, १९४४
३. प्रभाचंद्राचार्य : (अ) प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, निर्णय सागर प्रेस, बंबई, १९४१
(ब) न्यायकुमुदचन्द्र, माणिकचंद्र ग्रन्थमाला, बंबई, १९३८
४. नंदलाल जैन, तुलसी प्रज्ञा (प्रेस में)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

गंध भी उत्पन्न होती है, दूर देश से आने की बात भी गंध के समान ही है। इसलिए श्रोत्र गंध के समान ही प्राप्यकारी सिद्ध होता है। यदि दूर देश में स्थित और उत्पन्न शब्द ही कानों से सुना जाता है, तब फिर उसे निर्वात अवस्था के समान वायुपूर्व अवस्था में भी नहीं सुना जाना चाहिए। पुनश्च, जो शब्द वायु के कान के पास आने पर सुना जा सकता है, वहीं शब्द वायु की विपरीत दिशा के कारण क्यों नहीं सुना जाता? क्या वायु कान का अभिघात करती है या शब्द को नष्ट कर देती है? यदि वायु कान का अभिघात करती है, तब फिर निर्वात में भी शब्द श्रवण होना चाहिए क्योंकि शब्द प्रदेश में स्थित वायु कान का अभिघात कैसे कर सकती है? यदि वायु शब्द को नष्ट करती है, तो सामान्य वायु-प्रवाह में भी शब्द श्रवण नहीं होना चाहिए। यदि वह शब्द को प्रेरित कर श्रोत्र के पास पहुंचाती है, तो श्रोत्र का प्राप्यकारित्व ही सिद्ध होता है। यदि शब्द उत्पत्ति स्थान पर ही वायु से नष्ट हो जाते होते, तो मच्छरों की भनभनाहट, नगाड़े की आवाज तथा प्रतिध्वनि कैसे सुनाई देती? शब्द सदैव दो वस्तुओं की टक्कर से उत्पन्न होते हैं। फलतः विभिन्न देशों या स्थानों में उत्पन्न नगाड़े की आवाज से मच्छरों की भनभनाहट क्यों सुनाई नहीं देती? लेकिन यह देखा जाता है कि नगाड़े की आवाज के कारण मच्छरों की भनभनाहट सुनाई नहीं देती क्योंकि ध्वनियां परस्पर व्यतिकरण (अभिभव) करती हैं।

सूर्य की चमक के कारण आंखें, कभी-कभी, देखने में असमर्थ होती हैं। इसी प्रकार तीव्र, शब्दों से भी श्रोत्र का अभिघात होने के कारण मच्छर की भनभनाहट सुनाई नहीं देती। यह तथ्य तभी सही हो सकता है जब शब्द प्रेरित वायु अभिघात करे। ऐसी स्थिति में निर्वात दशा में भी शब्द सुनाई देने चाहिए क्योंकि इस दशा में अभिघातकर वायु नहीं होती। लेकिन शब्दों का अभिघात एवं निर्वात में शब्द का अश्रवण-दोनों ही प्रत्यक्षगम्य हैं क्योंकि ध्वनि के प्रसारण के लिए माध्यम अनिवार्य है। इसीलिए शब्द दूर-देश में उत्पन्न होकर गतिशील होता है और कर्ण पटल पर ध्वनि की अनुभूति कराता है। साथ ही, शब्द की दूरता दूर-देश के ग्रहण से ही संभव है जैसा चक्षु से दूर-समीपस्थ वृक्षादि को देखने के लिए माना जाता है।

यह प्रश्न हो सकता है कि इस दूर-देश का ग्रहण श्रोत्र से होता है या अन्य इन्द्रियों से? शब्द ग्राही श्रोत्र से तो यह हो नहीं सकता। यदि अन्य इन्द्रियों से देश का ग्रहण हो, तो उससे देश की दूरता ही प्रकट होगी, शब्द की नहीं। यह संभव नहीं है कि देशग्राही इन्द्रिय और शब्द ग्राही श्रोत्र दोनों के अनुभवों के बाद शब्द की प्रतीति हो क्योंकि यह क्रमशः होगी जबकि वस्तुतः दूरवर्ती शब्द की प्रतीति एकसाथ ही होती है। इस प्रकार गंध के समान शब्द भी प्राप्यकारी सिद्ध होता है। शब्द के उत्पत्ति स्थान या दूरता-समीपता संबंधी संदेह कर्णविकार के कारण ही संभव होते हैं।

जैन मान्यता के निष्कर्ष—उपरोक्त विवरण से निम्न निष्कर्ष प्रकट होते हैं:

(१) शब्द मूर्त्त और पौद्गलिक (कणमय) है। वह कर्ण पटल से टकराकर ध्वनि की अनुभूति करता है।

(२) शब्द विचित्र पदार्थों की टकराहट से उत्पन्न होता है।

(३) शब्द में अभिघात, अभिभव, क्रिया-स्पर्श, अल्प-महत्त्व, संयोगाश्रयता, परिमाण आदि गुण होते हैं, अतः शब्द मूर्त्त है।

(४) शब्द कही भी उत्पन्न क्यों न हो, वह वायु के माध्यम से संचारित होता है। यह निर्वात सुनाई नहीं पड़ता।

(५) शब्द में गतिशीलता होती है। यह दूर देश में भी उत्पन्न होता है और समीप देश में भी उत्पन्न होता है।

(६) शब्द सूक्ष्म होते हैं, अतः उनके आवागमन में रुकावट नहीं होती।

(७) कान में यह क्षमता पाई जाती है कि वह १२ योजन (१ योजन = ४ मील = ७ कि० मी०) अर्थात् ८४ किलोमीटर दूर उत्पन्न शब्द को भी सुन सकता है।

इन मान्यताओं से श्रोत्र की प्राप्यकारिता से सम्बन्धित दो बातें ज्ञात होती हैं:

(१) शब्द घंटा-हथौड़ी के समान पदार्थों के संघट्टन से उत्पन्न होता है।

(२) शब्द प्रचंड वेग से चलकर कर्णपटल से संपर्कित होता है और ध्वनि की अनुभूति कराता है।

हम इन दोनों तन्त्रों पर ही आधुनिक वैज्ञानिक मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में विचार करेंगे।

कान की संरचना और कार्यविधि— शास्त्रीय मान्यताओं की समीक्षा से पूर्व हमें श्रोत्रेन्द्रिय तथा ध्वनि विषयक वैज्ञानिक मान्यताओं का संक्षिप्त ज्ञान आवश्यक है। वर्त्तमान शरीर विज्ञानी[1] यह मानते हैं कि हमारे कान की संरचना पर्याप्त जटिल है। इसमें मुख्यतः तीन अवयव (या गुहायें) होते हैं—वाह्य, मध्य और अंतरंग। बाह्य अवयव कर्ण पल्लव से कर्ण-पटल तक माना जाता है। मध्यवर्ती अवयव बाह्य और अंतरंग अवयव का संपर्क बिन्दु है और इसमें विभिन्न आकार की तीन अस्थियां होती हैं जिनमें अन्तिम अस्थि अन्तःकर्ण के अवयव से जुड़ी रहती है। अन्तःकर्ण की बनावट भूलभुलैया के समान होती है। इसमें गुप्त दीवारों तथा झिल्लियों वाली गुहायें होती हैं जिनमें एक विशेष प्रकार का द्रव भरा रहता है। यह अन्तःकर्ण सिर की एक विशेष अस्थि के अस्थिकोष में सुरक्षित रूप से स्थिर रहता है।

१. एच० एन० वैजल, जन्तु विज्ञान, यूनिवर्सल बुक डिपो, ग्वालियर, १९७८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

इन दोनों के बीच भी एक विशिष्ट द्रव भरा रहता है। अस्थिकोष पर बाहर की ओर दो छिद्र होते हैं जिनमें से एक मध्यकर्ण से संपर्कित रहता है।

कोई भी शब्द ध्वनि तरंगों के रूप में संप्रसारित होकर सर्वप्रथम कर्ण पल्लव के माध्यम से कर्ण पटल पर आपतित होता है। इससे यह कंपित होने लगता है। इसके कंपन से मध्यकर्ण की अस्थियां भी कंपित होती हैं। ये कंपन अन्तिम अस्थि के माध्यम से अन्तःकर्ण के शंख में भरे हुए द्रव में कंपन उत्पन्न करते हैं। इन कंपनों से ग्राहक कोशिकाओं की झिल्ली में ग्रथित रोम कंपित होने लगते हैं जो उन्हें उद्दीप्त करते हैं। ये उद्दीपन शंख की तंत्रिकाओं के माध्यम से मस्तिष्क में पहुंचते हैं और ध्वनि की अनुभूति कराते हैं।

कान की कार्य पद्धति से यह स्पष्ट है कि कर्ण पटल पर शब्द नहीं, अपितु उनके कारण उत्पन्न हुए माध्यम के कंपन आपतित होते हैं जो उसे अपनी विशिष्ट ऊर्जा के अनुरूप कंपित करते हैं। कर्ण पटल के कंपन कान की मध्य और अन्तः गुहाओं में कंपन उत्पन्न करते हैं जो ग्राहक कोशिकाओं को उद्दीप्त कर ध्वनि की अनुभूति कराते हैं।

शब्द की उत्पत्ति-विधि—आधुनिक ध्वनिशास्त्री[1] यह मानते हैं कि ध्वनि विभिन्न पदार्थों के पारस्परिक संघटनों से उत्पन्न होती है। इनसे एक विशेष कोटि की ऊर्जा उत्पन्न होती हैं। इससे संघटन के समीपवर्ती माध्यम (मुख्यतः वायु) के कंपन उत्पन्न होने लगते हैं। ये अपनी कंपन ऊर्जा से जल में पत्थर डालने पर उत्पन्न होने वाली लहरियों के समान एक ध्वनि उत्पादक तरंग-शृंखला उत्पन्न करते हैं। इस शृंखला को कुछ विशिष्ट संवेदी अवयव ही ग्रहण कर सकते हैं (जैसे कान, रेडियो, टेलीफोन आदि) जो इसे ध्वनि के रूप में अनुभव करते हैं या प्रकट करते हैं। संघटन-ऊर्जा से उत्पन्न यह कंपन-शृंखला ही हमारे कर्ण पटल को प्रभावित करती है। कंपन की यह ऊर्जा गतिक होती है। इसलिए इनके फलस्वरूप उत्पन्न ध्वनि को भी गतिक ऊर्जा का ही एक रूप मानना चाहिए। यह माना जाता है कि ध्वनि की अनुभूति के कंपनों का एक निश्चित परिसर (२०-२०,००० प्रति सेकंड) होता है। इससे कम या अधिक वेगवान कंपन हमारे कान की झिल्ली को या तो प्रभावित नहीं करते या उसे फोड़ सकते हैं। इस धारणा के आधार पर ध्वनि से संबंधित अभिभव, व्यतिकरण, परावर्तन, प्रतिध्वनि आदि सभी गुणों की तर्क संगत व्याख्या की जा सकती है।

श्रोत्र की प्राप्यकारिता की समीक्षा—ध्वनि की ऊर्जात्मक धारणा से इतना तो स्पष्ट है कि यदि ऊर्जा पौद्गलिक होती है, तो उसके गुण सामान्य पदार्थों से भिन्न होते हैं। उसके कण अनंत सूक्ष्म होते हैं और उसका भार भी मापनीय कोटि में नहीं आता। इसीलिए उसे प्राचीन काल में भारहीन माना गया था। साथ ही ऊर्जा गति और क्रिया की प्रतीक है। इस दृष्टि से ध्वनि की पौद्गलिकता अव्याख्यात कोटि की ही मानी जानी चाहिए। ध्वनि के स्पर्श आदि गुणों की मान्यता भी, वस्तुतः उसके संप्रसारण-माध्यम के गुणों को ही सूचित करती है। ध्वनि की भौतिकता की धारणा में भी उसके संघट्टन प्रत्यास्थ होने चाहिए। ऐसे संघट्टनों में इतनी ऊर्जा प्रायः नहीं पाई जा सकती जो ध्वनि की अनुभूति करा सके। फलतः व्यावहारिक दृष्टि से ध्वनि की अमूर्त्तता या अतिसूक्ष्मता ही अधिक उपयोगी प्रतीत होती है।

इस प्रकार ध्वनि उत्पादक प्रदेश से ध्वनि नहीं, अपितु ध्वनि-उत्पादी तरंग या कंपन वायु आदि के माध्यम से कर्ण पटल पर पहुंचते हैं। इन पटलों में यह विशेषता होती है कि वे कंपनों को पुनः ध्वनि के रूप में अनुभूति करा सकें। सभी झिल्लियां यह काम नहीं कर सकतीं। कान में बने विशेष प्रकार के घटक ही यह काम कर सकते हैं। इसे ठीक ऐसे ही समझना चाहिए जैसे प्रत्येक रेडियो से सभी स्टेशन नहीं सुने जा सकते। प्रत्येक स्टेशन की अपनी विशेषता होती है जिसका ग्रहण वही रेडियो कर सकता है जिसमें उसके लिए ग्रहण क्षमता हो। फलतः ध्वनि-ग्रहण या अनुभूति ऊर्जा के रूपान्तरण का ही एक रूप है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैसे चक्षु से रूप देखने के लिए आंख के कैमरे का प्रकाश की उपस्थिति में पदार्थ से दूर-संपर्क होता है (फलतः चक्षु को अप्राप्यकारी या ईषत् प्राप्यकारी माना जाता है), उसी प्रकार कान भी ध्वनि के उत्पत्ति स्थान से माध्यम में उठी तरंगों या कंपनों के माध्यम से अपने विभिन्न पर्दों और तरलों द्वारा ध्वनि की अनुभूति कराता है। यह प्रक्रिया कान में मच्छरों की भनभनाहट या दूरवर्ती घंटी की आवाज आदि प्रकरणों में समान रूप से लागू होती है। अन्तर केवल इतना है कि एक प्रकरण में कंपन काफी दूर तक गमन करते है जबकि दूसरे में ये कान में उपलब्ध वायु में ही होते हैं। इस प्रकार कान को भी चक्षु के समान ही अप्राप्यकारी या ईषत् प्राप्यकारी मानना चाहिए जैसा बौद्ध मानते हैं।

वस्तुतः प्रारंभिक जैन मान्यता में दो पदार्थों के स्पर्श होने पर भी शब्दोत्पत्ति मानी गई है। इनके संघट्टन और कंपन से शब्दोत्पत्ति की बात बाद में आई है। इसके विपरीत, न्यायमत[2] शब्द की उत्पत्ति तथा प्रसार वीचीतरंग या पुष्पकलिका न्याय से पूर्वतः ही मानता रहा है। वह तो शब्द को अमूर्त्त भी मानता रहा है। यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें कौन-सा मत प्राचीन है, पर जैनों ने इन दोनों ही मान्यताओं का खंडन किया है। यह खंडन उनकी अनेक विषयों में पाई जाने वाली सूक्ष्म दृष्टि एवं तीक्ष्ण निरीक्षण क्षमता के विपर्यास में जाता है।

१. जी० सी० रायचौधरी : भौतिकी-२, साइंस बुक डिपो, कलकत्ता, १९४९
२. आनन्द झा : पदार्थशस्त्र, उ० प्र० हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९६८

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

यद्यपि यह सही है कि श्रोत्र की प्राप्यकारिता गंध के समान व्याख्यात की जाती है। फिर भी, यह स्पष्ट है कि गंधोत्पादी अणु स्वयं वायवीय माध्यम से चलकर घ्राणेन्द्रिय से संपर्क कर गंधानुभूति कराते हैं। ऐसा चक्षु और श्रोत्र के विषय में नहीं कहा जा सकता। यहां प्रत्यक्ष संपर्क का तो प्रश्न ही नहीं उठता। हां, यहां प्रकाश और वायवीय कंपनों का माध्यम अवश्य परोक्ष रूप से कार्यकारी होता है। श्रोत्र के विषय में तो यह भी स्पष्ट है कि इस पर पड़ने वाले कंपन अनुभवगम्य वायु के माध्यम से आते हैं। चूंकि निर्वात में कंपन नहीं होते या माध्यम के अभाव में उनमें गतिशीलता नहीं हो सकती, अतः निर्वात में ध्वनि प्रसारित नहीं होती। इस तथ्य का ज्ञान रहते हुए भी उसकी व्याख्या में आधुनिक दृष्टि से अन्तर पड़ गया है। जहां शास्त्रीय पक्ष इसे श्रोत्र के प्राप्यकारिता का समर्थक मानता है, वहीं वैज्ञानिक पक्ष इसे माध्यम के अभाव में कंपनों के गतिहीन होने के कारण शब्द के परोक्ष प्राप्यकारित्व या अप्राप्यकारित्व का समर्थन करता है।

इस प्रकार, चक्षु और श्रोत्र दोनों की संरचना और कार्यविधि अब सुज्ञात हो चुकी है। इन दोनों की ही विषय-ग्राहिता एक ही विधि से पाई गई है। इनमें से यदि एक को अप्राप्यकारी माना जाता है, तो दूसरे को भी तदनुरूप ही मानना होगा।

ऐसा प्रतीत होता है कि शास्त्रीय युग में चक्षु के समान कर्णेन्द्रिय की आंतरिक रचना का भी अच्छी तरह ज्ञान नहीं हो पाया था। उस समय कर्ण पटल में मच्छर की भनभनाहट का ज्ञान अवश्य था। फलतः इनके प्रत्यक्ष संपर्क से श्रोत्र की प्राप्यकारिता प्रस्तावित की गई। प्रारंभ से लेकर अठारहवीं सदी के अंत तक सभी ऊर्जाओं (ऊष्मा, प्रकाश, ध्वनि आदि) को भी तरल (कणमय) ही माना जाता रहा है। इस आधार पर प्राप्यकारिता की धारणा संगत बैठती है। पर अब नए तथ्यों और घटनाओं के सूक्ष्म निरीक्षण और परीक्षण इस मान्यता में सुधार की ओर संकेत करते हैं। संभवतः इसी लिए आचार्य वीरसेन[1] ने धवला में श्रोत्र को प्राप्यकारी तथा अप्राप्यकारी-दोनों रूप में माना है। जैन मान्यतानुसार, शब्द की प्रकृति पर कुछ लेखकों[2] ने प्रकाश डाला है पर उन्होंने भी कर्णेन्द्रिय द्वारा शब्द ग्राहिता की व्याख्या पर मौन रखा है।

श्रोत्रेन्द्रिय की प्राप्यकारिता और बौद्ध मत-समीक्षा

शरीर धारी जीव को जानने के साधन रूप स्पर्शनादि पांच इन्द्रियां होती हैं। मन को ईषत् इन्द्रिय स्वीकार किया गया है। ऊपर दिखाई देने वाली तो बाह्य इन्द्रियां हैं। इन्हें द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। इनमें भी चक्षुपटलादि तो उस इन्द्रिय के उपकरण होने के कारण उपकरण कहलाते हैं; और अन्दर में रहने वाला आंख का व आत्म प्रदेशों की रचना विशेष निवृत्ति इन्द्रिय कहलाती है। क्योंकि वास्तव में जानने का काम इन्हीं इन्द्रियों से होता है उपकरणों से नहीं। परन्तु इनके पीछे रहने वाले जीव के ज्ञान का क्षयोपशय व उपयोग भावेन्द्रिय है, जो जानने का साक्षात् साधन है। उपरोक्त छहों इन्द्रियों में चक्षु और मन अपने विषय को स्पर्श किए बिना ही जानती हैं, इसलिए आप्राप्यकारी हैं। शेष इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं।

प्रश्न—बौद्ध कहते हैं—श्रोत्र भी चक्षु की तरह आप्राप्यकारी है क्योंकि वह दूरवर्ती शब्द को सुन लेता है ?

उत्तर—यह मत ठीक नहीं, क्योंकि श्रोत्र का दूर से शब्द सुनना असिद्ध है। वह तो नाक की तरह अपने देश में आए हुए शब्द पुद्गलों को सुनता है। शब्द वर्गणाएं कान के भीतर पहुंचकर ही सुनाई देती हैं। यदि कान दूरवर्ती शब्द को सुनता है तो उसे कान के भीतर घुसे हुए मच्छर का भिनभिनाना नहीं सुनाई देना चाहिए, क्योंकि कोई भी इन्द्रिय अति निकटवर्ती व दूरवर्ती दोनों प्रकार के पदार्थों को नहीं जान सकती।

प्रश्न—श्रोत्र को प्राप्यकारी मानने पर भी 'अमुक देश की अमुक दिशा में शब्द है' इस प्रकार दिग्देशविशिष्टता के साथ विरोध आता है ?

उत्तर—नहीं, क्योंकि वेगवान् शब्द परिणत पुद्गलों के त्वरित और नियत देशादि से आने के कारण उस प्रकार का ज्ञान हो जाता है। शब्द पुद्गल अत्यन्त सूक्ष्म हैं, वे चारों ओर फैलकर श्रोताओं के कानों में प्रविष्ट होते हैं। कहीं प्रतिघात भी प्रतिकूल वायु और दीवार आदि से हो जाता है।

—श्री जिनेन्द्र वर्णी, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-१, पृ० ३१४, ३१८ से उद्धृत

---

१. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री (वि०) : तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), वर्णी ग्रन्थमाला, १९४९

२. जे० सी० सिकदर : जैन थ्योरी आव साउंड, रिसर्च जर्नल आफ फिलासफी, १९७३

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org